बाल जीवनी माला

१. डारविन	अशोक घोष
२. आइजक न्यूटन	ओमप्रकाश आर्य
३. शरतचन्द्र	विष्णु प्रभाकर
४. रामानुजन	डा. वजीर हसन आब्दी
५. जगदीशचन्द्र बसु	सुभाष मुखोपाध्याय
६. मिर्जा गालिब	रज़िया सज्जाद ज़हीर
७. निराला	डा. रामविलास शर्मा
८. आर्किमीदिज	गुणाकर मुले
९. भास्कराचार्य	गुणाकर मुले
१०. सी. वी रामन	विश्वमित्र शर्मा
११. एडिसन	शंकरलाल पारीक
१२. वाल्तेयर	देवीप्रसाद
१३. प्रफुल्लचन्द्र राय	राजीव सक्सेना
१४. मादाम क्यूरी	गीता बन्दोपाध्याय
१५. गेलीलियो	ओमप्रकाश आर्य
१६. पास्कल	गुणाकर मुले
१७. आइंस्टाइन	युगजीत नवलपुरी
१८. केपलर	गुणाकर मुले
१९. राहुल सांकृत्यायन	भदन्त आनन्द कौसल्यायन
२०. बंकिमचन्द्र	विष्णु प्रभाकर
२१. प्रेमचन्द	नागार्जुन
२२ कॉपर्निकस	डा. वजीर हसन आब्दी
२३. लुई पाश्चर	शंकरलाल पारीक
२४. मेंडेलीफ	गुणाकर मुले

प्रत्येक का मूल्य ३ रुपये ५० पैसे
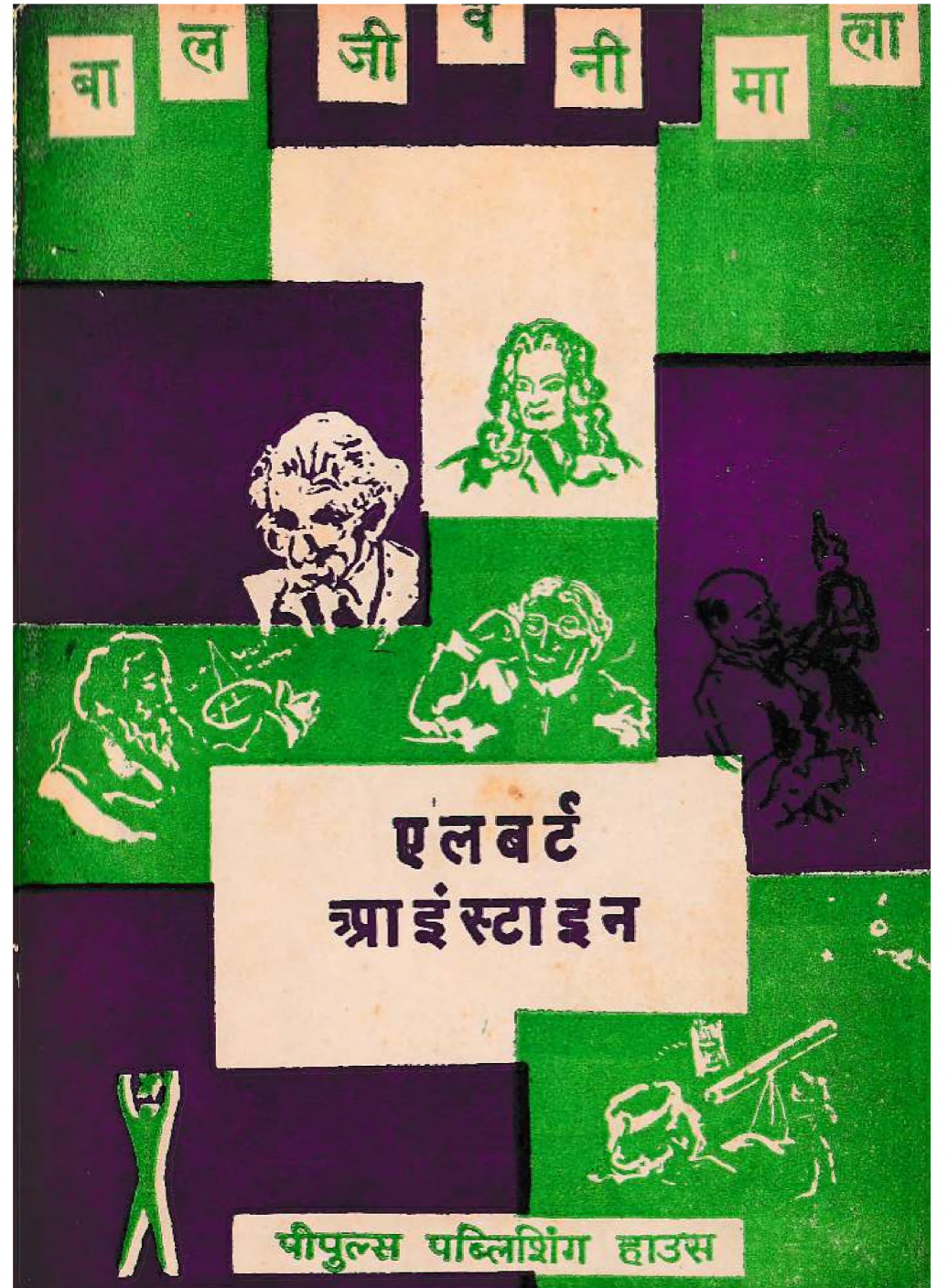
बाल जीवनी माला

एलबर्ट आइंस्टाइन

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
रानी झांसी रोड, नई दिल्ली

पहला हिन्दी संस्करण
नवम्बर, १९५९
दूसरा हिन्दी संस्करण
अप्रैल, १९६४
तीसरा हिन्दी संस्करण
१९७९

लेखक
युगजीत नवलपुरी

•

मूल्य : ३ रुपये ५० नये पैसे

जितेन सेन द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लिमिटेड नई दिल्ली की तरफ से प्रकाशित।

एलबर्ट आइंस्टाइन
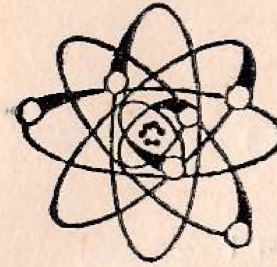
दुनिया की कहानी बहुत पुरानी है।

आदमी की कहानी भी बहुत पुरानी है।

सच पूछो तो यह एक ही कहानी है। और इसके दो अध्याय किये जा सकते हैं! एक १९०५ तक का और दूसरा उसके बाद का।

१९०५ में ऐसा क्या हुआ था?

१९०५ में परमाणु युग की नींव पड़ी थी।

वह नींव है विज्ञान का एक नया-निराला सिद्धांत।

वह सिद्धांत क्या है? उसका पता किसने लगाया?

पता लगाने वाले का नाम है...

रहने दो। चलो, उसकी पूरी कहानी ही सुना दें।

: यहूदी परिवार :

जर्मनी में एक शहर है : ऊल्म ।

जैसे सौ शहर और वैसे एक यह भी ।

कोई खास बात नहीं उसमें ?

है क्यों नहीं ? जर्मनी की सबसे ऊंची इमारत उसी शहर में है । उल्म का गिरजा । उस गिरजे की चोटी पर चढ़ो तो दूर-दूर तक दिखाई पड़ता है । लेकिन कितनी दूर ?...

इससे कहीं बड़ी बात तो यह है कि उस शहर में वह आदमी पैदा हुआ था, जिसकी कहानी हम तुम्हें सुनाने जा रहे हैं ।

उस आदमी ने वहां तक देखा, जहां तक कोई नहीं देख सका ।

हां, तो उस ऊल्म शहर में एक यहूदी परिवार रहता था । पति और पत्नी । पति का नाम था हरमान

आइंस्टाइन और पत्नी का पाउलीन आइंस्टाइन ।

हरमान साहब बड़े मस्त जीव थे । उन्हें हर बात में अच्छाई ही अच्छाई और आशा ही आशा दिखाई देती थी । जीवन में कुछ करने-धरने की बात उन्हें बखेड़ा लगती थी । बस, जिये जाना ही उनके लिए काफी था ।

सन १८७९ की बात है । जर्मनी में उन दिनों बिस्मार्क का राज था । पूरा देश फौजी गारद बना हुआ था । बिस्मार्क का नारा ही था : "लोहा और लोहू !"

उसी साल मार्च के महीने में १४ तारीख के दिन हरमान साहब के घर एक पुत्र का जन्म हुआ । पुत्र का नाम पड़ा : एलबर्ट ।

एलबर्ट बढ़ने लगा । बोलना सीखने में उसे बहुत देर लगी । माँ-बाप घबराये कि हो न हो, लड़का कहीं गूंगा तो नहीं निकलेगा । धीरे-धीरे एलबर्ट बोलना सीखा । पर बोलता बहुत कम था । बोल आसानी से उसके मुंह में नहीं आते थे । बहुत सोच-सोच कर बोलता था ।

वह सोचता ज्यादा था, बोलता कम था । था न अनोखा लड़का ?

: मनमौजी बालक :

एलबर्ट तब पांच साल का था। एक दिन एलबर्ट को बहलाने के लिए पिता जी ने उसे एक खिलौना दिखलाया। यह खिलौना नहीं था; कंपास था। जानते हो, कंपास क्या होता है ? एक डिबिया सी चीज होती है, जिसमें एक सुई लगी रहती है। कंपास को चाहे जिधर घुमाओ, सुई सदा उत्तर की ओर रहेगी। एलबर्ट अचंभे में पड़ गया। उसे अनजानी मेल-शक्तियों को जानने की धुन सताने लगी।

बालक एलबर्ट

यह उसके उत्साही मन की एक झांकी है।

अपने बाल मन की इस बात की याद एलबर्ट को जीवन भर बनी रही। प्रकृति में और भी बहुत सी बातें अचंभे की हैं, पर और किसी बात ने उस पर ऐसी गहरी छाप नहीं डाली।

उन्हीं दिनों मनमौजी पिता जी पूरे परिवार को लेकर म्यूनिख चले गये। म्यूनिख में जिस घर में वह रहने लगे, वह छोटा सा, बड़ा ही प्यारा-प्यारा सा बंगला था जिसके चारों ओर फुलवाड़ी थी। यहां की प्रकृति बड़ी सुहावनी थी। उसने बालक एलबर्ट के हृदय में ऐसा आनन्द भर दिया, जैसा बड़े-बड़े नगरों में रहने वाले कभी नहीं पा सकते। प्रकृति उसके कानों में गीत गुनगुनाती थी। वसन्त आने पर वह आनन्द मग्न होकर जाने क्या-क्या सोचता रहता था।

धीरे-धीरे एलबर्ट की भावनाओं में धार्मिकता का हलका-सा रंग उभरने लगा। सुगंधों भरी हवा, कलियों, झाड़ियों आदि ने इस रंग को और पक्का बनाना शुरू किया। घर पर और स्कूल में जो शिक्षा मिलती थी, उसने भी इस काम में हाथ बटाया। लेकिन इस धर्म-भावना में कोई कट्टरता नहीं थी। घर पर यहूदी धर्म का राज था और स्कूल में ईसाई धर्म

का। एलबर्ट ने दोनों से उतना ही लिया, जितना दोनों में समान था।

एलबर्ट में जोश बहुत था, पर और लड़कों की तरह यह जोश अल्हड़ कामों या दूसरों को छकाने का रूप नहीं लेता था। वह अपना सारा जोश नयी-नयी उलझनें लेकर उनको सुलझाने में लगाता था।

खेलता भी वह था तो मन ही मन। नयी-नयी बातें सोचने का खेल। बाहरी खेल-कूद उसे अधिक नहीं भाते थे। सोचता भी बहुत धीरे-धीरे था। हिचक-हिचक कर, झिझक-झिझक कर। जो भी देखता-सुनता, जो भी छोटे-मोटे अनुभव पाता, उन्हें मन ही मन तोलता।

जो बातें और लड़के बात की बात में सीख लेते, उन्हीं बातों को सीखने में एलबर्ट को काफी देर लग जाती। लोग सोचते, यह तो बोदा है। सवालों के जवाब भी वह बड़ी देर में देता। हां, देता सदा ठीक-ठीक जवाब।

आठ-नौ साल का हो जाने पर भी एलबर्ट इतना लजीला था कि सबसे अलग-अलग रहता। हर बात में हिचकता। कोई भी नया काम हाथ में लेने से पहले बड़ी देर तक सोचता रहता। संगी-साथियों से दूर

भागता। राह चलता तो अकेला ही। कोई साथ लग जाय तो भी पिछड़ कर या राह बदल कर अकेला हो लेता। हर घड़ी वह सपने ही सपने देखता रहता।

उसे सचाई से प्यार था। न्याय से भी। यह प्यार इतना गहरा था कि लोग इसे उसका रोग मानने लगे थे। अपनों को तो चिन्ता सी हो चली थी, परायों को हंसी उड़ाने का बहाना मिल गया था। उन्होंने एलबर्ट को "काजी मियां बावले" का नाम दे रखा था। लड़के उसे देखते ही चिल्लाने लगते : "काजी मियां बावले, सच के पीछे सांवले !"

एलबर्ट के जिस गुण को लोग उसका रोग समझने लगे थे, वही सचमुच उसकी महानता का बीज था। सचाई और न्याय से प्रेम उसकी प्रकृति का अंग था। इस प्रेम की जड़ें इतनी गहरी थीं कि दुनिया की कोई बुराई उसे उखाड़ नहीं सकी।

एलबर्ट का संगीत प्रेम भी बचपन में ही जाग उठा था। नन्हें-नन्हें गीत रच कर वह किसी एकांत कोने में बैठ जाता और सुध-बुध भूल कर गाने लगता। ऐसे एकांत में और तो और, मां-बाप का आना भी उसे अच्छा न लगता।

इस तरह प्रकृति और संगीत एलबर्ट की भावना

में घुल-मिल कर एक हो गये। भावना की यह एकता नैतिक एकता थी।

हां, एक बात जरूर हुई। एलबर्ट के विचारों का जो धार्मिक पक्ष था, उसका रंग धीरे-धीरे बदलता गया। आगे चल कर एलबर्ट जब वैज्ञानिक आइंस्टाइन बना, तो इस धार्मिकता का रूप और का और हो गया।

वह रूप क्या था? संसार को देखने-समझने की यह दृष्टि क्या थी?

लेकिन वह तो बाद की बात है।
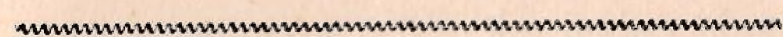
: पढ़ाई-लिखाई :

एलबर्ट बड़ा सुशील बालक था। लेकिन उसके मन को चोटें भी पहुंचीं। तुम पूछोगे : कैसी चोटें ?

एक यही बात ले लो : वह यहूदी का लड़का था।

स्कूल में यहूदी लड़के थोड़े ही थे। उन दिनों जर्मनी में यहूदियों को सताने की हवा सी फैल रही थी। स्कूल भी इस रोग से बरी न थे। क्या शिक्षक और क्या छात्र, सब पागल से हो रहे थे। यहूदियों को देखते ही उनका पारा गरम हो उठता।

एलबर्ट बेचारा बड़े फेर में पड़ा। यह एक ऐसी अनोखी बात थी जो उसे किसी तरह नहीं भाती थी। उसका स्वभाव नरम था। विनय का बरताव वह छोड़ नहीं सकता था। विनयशील होने के कारण उसे बार-बार अन्याय का शिकार भी होना पड़ता था।

पर अब वह अपना बचाव करने लगा। इससे उसके नरम और शांत स्वभाव का दब्बूपन जाता रहा।

उसमें स्वतंत्रता आने लगी। उसका अपना व्यक्तित्व निखरने लगा।

एलबर्ट के एक छोटी बहन थी। नाम था माया।

मां-बाप धनी नहीं थे। माली हालत अच्छी नहीं रहती थी। दोनों बच्चों के लालन-पालन का खर्चा पूरा न हो पाता था। इसलिए जिस स्कूल में उन्हें रखा गया था वह मामूली सा ही स्कूल था।

लेकिन उस मामूली स्कूल में भी एलबर्ट सदा पिछड़ा ही रहता। उसकी पढ़ाई बड़े धीमे चलती। वैसे था वह बड़ा सावधान विद्यार्थी। सब पाठ पूरे करता था। लेकिन उसमें ऐसा कुछ नहीं दिखाई देता था, जिससे उसे तेज विद्यार्थी कहा जा सके। शब्द उसे बड़ी कठिनाई से याद रहते थे।

अब वह दस साल का हो गया था। शिशु-वर्ग से निकल कर प्राथमिक पाठशाला में पहुंचा। पढ़ाई क्या थी, कसरत-कवायद थी। बड़ी सख्ती बरती जाती थी।

स्कूल का नाम सुनते ही एलबर्ट पर घड़ों पानी पड़ जाता। बुढ़ापे तक आइंस्टाइन यही कहते रहे—मेरी पाठशाला के शिक्षक फौजी हवलदारों जैसे थे और माध्यमिक शाला के फौजदारों जैसे।

यह व्यंग्य क्या आजकल हम समझेंगे? समझें तो तब, जब हमें पता हो कि उन दिनों के हवलदार और फौजदार कैसे होते थे। लड़के सवाल तक नहीं पूछ सकते थे। शिक्षक ने ऊल-जलूल जो भी कह दिया, मानना ही पड़ता था, करना ही पड़ता था। न मानो, न करो—तो कुशल नहीं। शिक्षकों का बरताव तो ऐसा होता था, मानो वे ही संसार के क्षत्रपति हों।

माध्यमिक शाला के बाद एलबर्ट की पढ़ाई म्यूनिख की लुइटपोल्ड शाला में हुई। यहां उसे दूसरा दरजा मिला। पढ़ाई में कुछ-कुछ रस भी आने लगा। लेकिन किसी-किसी शिक्षक के पढ़ाने में ही। बाकी सब के बरताव में यहां भी वैसा ही फौजी उजड्डपन था। विद्यार्थी सजा पाये हुए कैदियों की तरह दिन काटते थे।

फल यह हुआ कि बालक एलबर्ट का सरल मन खीझ उठा। आदमी की बनायी संस्थाओं से उसे घृणा-सी हो चली। पढ़ाई के विषयों का उसके लिए कोई महत्व न रह गया। वैसे भी, यह पढ़ाई कोई पढ़ाई तो थी नहीं।

उदासी और मुर्दनी के इस घटाटोप में कहीं-कहीं उजाले की एकाध कोमल किरण भी थी। कुछ शिक्षक पढ़ाने में रस लेते थे। खास करके एक वह साहब

जिनका नाम रुएस था। पढ़ाना जानते भी थे। चौदह साल के एलबर्ट के मन पर प्राचीन साहित्य की गहरी छाप डालने में वह कुछ भी उठा नहीं रखते थे। उन्हीं की कृपा से एलबर्ट को यूनानी साहित्य और इतिहास रुचने लगे।

उन्हीं की कृपा से वह अपने देश की कविता, जर्मन कविता, के भी रसिक बन गये।

स्कूली जीवन के रेगिस्तान में पानी की ये ही कुछ धाराएं थीं। ज्ञान के प्यासे एलबर्ट को इन्हीं में दो-चार घूंट पीने को मिल जाते थे।

अरे हां, एलबर्ट के एक भारी-भरकम अनुभव की बात तो बतायी ही नहीं। यह अनुभव था गणित से पहली जान-पहचान का। उन दिनों एलबर्ट चौदह नहीं बारह साल के ही थे। पर यह अनुभव उन्हें स्कूल में नहीं, बाहर मिला था।

सुनो, बताता हूं।

एलबर्ट हर घड़ी कोई न कोई सवाल लिये उलझे रहते थे। जब तक पैना सा जवाब न सूझ जाय, तब तक छटपटाते रहते। शुरू से ही गुत्थियां सुलझाने का खेल उन्हें बहुत पसंद था—तभी से, जब कि गणित के गुरों का कोई पता भी नहीं था।

जानते हो वह क्या करते थे? जहां-तहां से गणित के छोटे-मोटे पैंतरे ढूंढ़ निकालते और उन्हीं से खेला करते। उन्हीं के सहारे वह अपनी गुत्थियां सुलझा लिया करते। किसी-किसी गुत्थी के सुलझाने पर बेहद खुश हो उठते।

एक दिन की बात है। आइंस्टाइन ने अपने चाचा याकोव से एक सवाल पूछा। चाचा म्यूनिख में ही कल-पुर्जों के मिस्त्री का काम करते थे। बड़े हंसोड़, बड़े ठिठोलिया थे।

सवाल यह था : बीजगणित क्या है?

एलबर्ट ने बीजगणित का नाम तो सुन रखा था, पर मतलब खाक पल्ले नहीं पड़ा था।

चाचा याकोव ने समझाया :

"बेटा, बीजगणित मौजी हिसाब है। ठलुये का बहलाव। इसमें एक राशि होती है, जिसका कोई अता-पता नहीं रहता। हमारा काम होता है : बस, उसका पता लगाना। मानो कोई छिपा जानवर हो, जिसका शिकार करना है। अब मान लो कोई अनजानी राशि है। पहले हम उसका नाम रखते हैं : 'अ' यानी अनजानी राशि! जब उसे यह 'अ' नाम दे चुकते हैं, तो एक चालाकी करते हैं। उसके साथ कुछ ऐसा

बरताव करते हैं, मानो कहते हों कि 'हम तो तुम्हें जानते हैं, हमसे अब क्या छिपाना !' फिर क्या करते हैं कि जानी हुई और-और राशियों के साथ उसके सम्बंधों को लिख लेते हैं और उन्हीं के सहारे शिकार जारी रखते हैं। और यह शिकार तब तक जारी रखते हैं जब तक कि अनजानी राशि को खोज नहीं लेते।"

देखा न, स्कूल की रूखी पढ़ाई से इस पढ़ाई का ढंग कितना न्यारा था !

खैर, एलबर्ट की समझ में बात शायद कुछ ही आई। चाचा ने बताया ही कितना था ? लेकिन एलबर्ट ऐसा नहीं था कि इतने पर ही बस कर लेता। बीज गणित के सवालों की एक किताब ली और लगा अनजान राशियों का शिकार करने। चाचा की बात का ध्यान रखते हुए सवाल पर सवाल हल करने लगा। बिना किसी मदद के ही पूरी किताब का एक-एक सवाल हल कर डाला !

एक बार और ऐसा ही हुआ।

चाचा याकोब ने रेखागणित का एक साध्य कह सुनाया।

साध्य यह है :

"समकोण वाले त्रिभुज के कर्ण का वर्ग शेष दो

भुजाओं के वर्गों के योगफल के बराबर होता है।"

अब तुम्हीं बताओ, जो लड़का रेखागणित नहीं जानता वह इस गोरखधंधे को क्या समझे ?

चाचा तो इतना सुना कर चले गये, पर बेचारे भतीजे की नींद हराम हो गयी। उसने समकोण, त्रिभुज, कर्ण, वर्ग आदि शब्दों के अर्थ के सहारे तीनों भुजाओं के संबंध को समझ लिया। पर चाचा ने यह कहां बताया था कि ऐसा क्यों और कैसे होता है ?

इस बार बालक एलबर्ट कागज पेंसिल लेकर बैठा और कारण की खोज में लग पड़ा।

पूरे तीन सप्ताह वह उस साध्य के पीछे पड़ा रहा। पूरी विचार-शक्ति इसी में लगाता रहा। आखिर उसे वह प्रमाण मिल गया जिसे वह खोज रहा था।

बेचारे को क्या पता था कि यह सदियों पुराना साध्य है; इतना प्रसिद्ध कि हर स्कूल में विद्यार्थी इसे जानते हैं ! दो-चार वर्ष बाद खुद एलबर्ट को यह सीखना ही था।

लेकिन यह सफलता इस बात का प्रमाण थी कि उसके बाल-मन में एक नयी प्रतिभा जागने लगी है। आविष्कार की प्रतिभा।

उन्हीं दिनों एलबर्ट का परिचय एक विचित्र

पुस्तक-माला से हुआ। प्रकृति के अचंभों से भरी कहानियों की पुस्तकों से। भौतिकी, ज्योतिष, रसायन की अद्‌भुत-अद्‌भुत बातें कहानियों ही कहानियों में बतायी गयी थीं।

पुस्तक-माला लगभग तीस साल पुरानी थी। इस बीच विज्ञान बहुत आगे बढ़ चुका था। पर एलबर्ट को इससे क्या ? वह तो 'विज्ञान' के हजारों आश्चर्यों से एक साथ परिचित हो रहा था ! यह बात और है कि इनमें से कितने ही आश्चर्य ऐसे थे, जो बासी पड़ चुके थे, कितने ही तो गलत भी साबित हो चुके थे।

फिर भी एलबर्ट को ज्ञान की प्यास थी। वह एक-एक अक्षर पढ़ गया। उसकी कल्पना में नये पंख लग गये।

और इन पंखों से उड़ने के लिए पूरा आसमान मिल गया। खुला-खुला और दूर, बहुत दूर, तक फैला आसमान !

: जादू की छड़ी :

एक साहब थे बुखनर। उन्होंने भारी-भरकम नाम वाली एक किताब लिखी थी : "क्राफ़्त उंद स्तोफ" (शक्ति और तत्व) ! किताब घटिया सी थी। पर कितने ही नौजवानों को भरमा चुकी थी।

हमारे एलबर्ट ने भी वह किताब पढ़ी। उसके 'तत्व' के सस्तेपन को वह भांप नहीं सके। उनका अचरज जागा, आलोचना नहीं जागी। लेकिन एक बात हुई : एलबर्ट के विचरने को 'तत्वों की दुनिया' मिल गयी।

दरअसल जिस किताब में वह बहुत दिनों तक रमे रहे, वह थी अमीनी की कोई किताब। उसमें रेखा-गणित के सवालों की भरमार थी। एलबर्ट ने उन्हें हल करने में हाथ डाल दिया और...और यही कि थोड़े ही दिनों में सारे सवाल हल कर डाले।

हद हो गयी ! उधर स्कूली संगी-साथी थे कि

अभी 'समानता' की पोखरी में ही ऊब-डूब रहे थे और 'दशमलव' के पाठ दोहरा रहे थे और इधर एलबर्ट 'अत्यणु' के महासमुद्र में डुबकियां ले रहा था।

लोगों ने सुना और दांतों तले उंगली दबा ली। शिक्षकों ने कहा कि इसे तो विश्वविद्यालय में भेज दिया जाय। गणित के शिक्षक अड़ गये कि लड़का पंद्रह साल का है तो क्या हुआ, विश्वविद्यालय की पढ़ाई के लिए 'पक चुका' है!

स्कूल की पढ़ाई तो बड़ी जल्द पार कर ली, पर पिंजरे से छुटकारा इससे नहीं, किसी दूसरी ही बात से मिला।

बात अचानक हुई।

१८९४ में माता-पिता इटली में जा बसे। एलबर्ट को आशा न थी कि इतनी जल्दी नये वातावरण में जा पाऊंगा। जर्मनी छोड़ने में बिछोह की जरा भी टीस नहीं हुई। गारदी बारिकों से जान बची, लाखों पाये।

अब वह इटली के मिलान नगर का निवासी था। जीवन बदल सा गया था। गणित के आनन्दों के सिवा जर्मनी में जो कुछ था, दुख ही दुख था। दुख पीछे छूट गये, आनन्द साथ रहे।

एक आनन्द और था। बारह वर्ष का हो चुकने के बाद से किशोर एलबर्ट को संगीत में भी कुछ अनोखा रस आने लगा था। अकसर संगीत के प्रयोगों में चमत्कारी धुनें निकल-निकल पड़तीं। उसे लगता मानो ये धुनें उसे किसी दिव्य-लोक में लिये जा रही हैं।

एक और भी आनन्द था। सितारों को निहारा करना। आसमान हर कहीं है, सितारे हर कहीं हैं। इटली में तो आसमान और साफ रहता, सितारे और चमकीले दिखाई देते।

इटली की गरम-गरम चमकती धूप, मनोहर दृश्य, इटली वालों के तौर-तरीके और रहन-सहन, बाजारों और गली-कूचों में सजी रखी कलाकृतियां, हर चीज कितनी लुभावनी थी। मानो ये ही वे चीजें थीं जिनके वह सपने देखा करता था।

छै माह तक तो स्कूल जाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। छुट्टी के उसने खूब मजे लिये। साहित्य का रस लिया। घुमक्कड़ी की। अकेले ही अकेले वह पाविया से जिनेवा तक हो आया। पहाड़ों-पहाड़ों, जंगलों-जंगलों।

पहाड़ों की छवि का सुख तो उसने लूटा ही, निचले वर्ग के लोगों के जीवन का भी उसे परिचय मिला। मन दुख और सहानुभूति से भर गया। थोड़े

दिनों एलबर्ट रिवियेरा में भी रहा, पर उसका आकर्षण उसे छू नहीं सका। उसका मन किन्हीं और ऊंचाइयों की ओर था।

आनन्द की ये यात्राएं थोड़े ही दिन रहीं। गणित और भौतिकी पढ़ने के लिए वह ज़ूरिच चला गया। पर वहां जाकर देखा कि नाम लिखाना संभव न था। वर्णनात्मक विज्ञानों और भाषाओं में अयोग्य पाया गया। सो अब वह आराउ गया और कुछ दिनों वहां रह कर इन विषयों की योग्यता प्राप्त की।

आराउ में पहले वाली बंदिशें नहीं थीं। पढ़ाई भी अच्छी थी। एलबर्ट का मन लगा और वह आसानी से पास हो गया।

एलबर्ट के पास एक जादू की छड़ी थी। तुम पूछोगे कौन सी छड़ी? गणित में उसकी अनोखी पैठ। पर इस छड़ी के गुणों का पता अभी खुद उसे भी नहीं था। एलबर्ट भौतिकी के उन अनजाने मैदानों की टोह लेने लगा था, जहां किसी की भी पहुँच नहीं हो सकी थी।

जानते हो, उस समय उसकी उम्र क्या थी?

कुल सोलह वर्ष!

एलबर्ट ऐसे किन विषयों में उलझा था?

वह उलझा था "चर्लपिंडों की प्रकाशिकी" में।

ऊंची बातें हैं; उलझी बातें हैं। पर यही उलझन उन विचारों की जननी थी, जिन्होंने हमारी धारणाओं को बदला!

युवक एलबर्ट को अपने से ऐसी लंबी-चौड़ी आशाएं नहीं थीं। उस समय तो उसका लक्ष्य बहुत साधारण था।

एलबर्ट की पांखों में अपार बल था, पर अनंत की उड़ानें भरने की चाह उसमें अभी नहीं थी। वह तो स्कूल का शिक्षक बनना चाहता था! इतने की आशा करना भी उसे बहुत बड़ी चीज जान पड़ती थी।

अपने सत्रहवें साल से इक्कीसवें साल तक, चार-पांच वर्ष, वह शिक्षक तैयार करने के स्कूल में पढ़ता रहा।

यहां वह छात्र के साथ-साथ शिक्षक भी था। प्रयोग की कक्षाओं में उसे शिक्षक के आसन पर बैठने का अवसर मिलता। लड़कों पर अपना लाभकारी प्रभाव डालना उसे बहुत पसंद था। इसी में उसे पूरा संतोष मिलता।

कई लोगों ने उसे बढ़ावा दिया कि भौतिकी या

गणित के आचार्य के सहायक का पद दिला देंगे। पर न जाने कौन सा ऐसा अनजान कारण था कि हर कहीं लोग उसे यह पद देने से इनकार कर देते थे। शायद इसका कारण उसके स्वतंत्र विचार रहे हों।

स्कूल-मास्टरी की आशा भी पूरी होती न जान पड़ती थी। जन्म की कुछ बातें ऐसी थीं, जो बाधक बनती थीं। पहली बात तो यही कि वह स्विस नहीं था। सच पूछो तो मिलान पहुंचने के बाद से उसका अपना कोई देश था ही नहीं। रहा भी हो, तो अधिकारी उसे नहीं मान सकते थे।

दूसरी बात इससे भी बढ़ कर थी। एलबर्ट बेचारे की कोई व्यक्तिगत 'पहुंच' नहीं थी। धनवादी समाज ही ऐसा है कि किसी में लाख प्रतिभाएं क्यों न हों, जब तक किसी 'बड़े आदमी' तक उसकी 'पहुंच' नहीं होती, कोई उसे दो कौड़ी को भी नहीं पूछता।

दैनिक जीवन की मांगें ऐसी होती हैं कि चाहे जैसे भी हो, पेट तो भरना ही पड़ता है। इसलिए कुछ दिनों तक एलबर्ट घर-घर अमीरों के बच्चे पढ़ाता किसी तरह गुजारा करता रहा। कभी इस शहर तो कभी उस शहर।

संतोष बस इतना था कि अपनी स्वतंत्रता बनी थी, कि वह किसी का दबैल नहीं था। स्वतंत्रता की यह भावना उसमें बड़ी जबरदस्त थी। दुख तो उसे बहुत उठाने पड़े, पर लाभ भी हुआ। धीरे-धीरे वह अपने गुणों को पहचानने लगा।

: एक चुनौती :

एलबर्ट अब पूरे युवक हो गये थे।

प्रयोग करना उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। विद्यालय की पढ़ाई के दिनों में भी अपने प्रयोग जारी रखे। ये प्रयोग वह अपने घर पर करते।

एक और लड़की थी जो इसी दिशा में काम कर रही थी। नाम था मिलेवा मारित्श। सरबिया की स्लाव लड़की थी वह। वही इन घरेलू पढ़ाइयों में एलबर्ट की संगिनी थी।

फिर क्या हुआ जानते हो?

वही जो होना था। १९०३ में दोनों ने ब्याह कर लिया। कुछ ही दिनों में वे दो पुत्रों के माता-पिता बन गये।

ब्याह के दो साल पहले एलबर्ट को जूरिच की नागरिकता मिल गयी। बहुत-बहुत दौड़-धूप के बाद। अब वह स्विस नागरिक थे। दैनिक जीवन की कई चिंताओं से छुटकारा पाने का अवसर हाथ आया।

नौकरी मिलने में भी सहूलियत हुई।

एलबर्ट का एक सहपाठी था : मारशल ग्रोसमान। स्विस पेटेंट विभाग का बड़ा हाकिम उसका दोस्त था। उसने कह-सुन कर एलबर्ट को पेटेंट विभाग में नौकरी दिला दी। काम था तकनीकी विशेषज्ञ का, यानी पेटेंट के लिए जो अर्जियां आती थीं उन्हें जांचने का।

इस काम में एलबर्ट का मन लग गया। पैसे तो बहुत कम मिलते थे। हां, यांत्रिकी-विज्ञान में खुल कर विचरने का मौका जरूर मिलता था।

१९०२ से १९०५ तक एलबर्ट इसी काम पर लगे रहे।

बात कुछ बेतुकी सी लगती है। कहां भौतिकी के मूल सिद्धांत और कहां कल-पुर्जों की यह दुनिया! आखिर क्या बात थी कि भले-बुरे यंत्रों, कल-पुर्जों और औजारों को जांचने-परखने से एलबर्ट का जी नहीं ऊबा?

ऊबता क्यों? उनके विचार तो इस बारे में कुछ और ही थे। उनका कहना था कि दोनों क्षेत्र एक-दूसरे के पूरक हैं। पेटेंट विभाग में मिली जानकारी और गंभीर चिन्तन से मिले सैद्धांतिक नतीजों में एलबर्ट को गहरा सम्बंध दिखाई देता था।

सन १९०५ !

एलबर्ट ने अभी पेटेंट विभाग का काम छोड़ा नहीं था। लेकिन भौतिकी के कामों को भी उन्होंने इस बीच कभी नहीं छोड़ा। भौतिकी के कामों के लिए कुछ न कुछ समय निकाल ही लेते। प्रयोग किया करते और प्रयोग करने के साथ दिन-रात सोचा भी करते। सोचते थे भौतिकी के मूल सिद्धान्तों के बारे में; ब्रह्मांड की बनावट के बारे में। ब्रह्मांड का रहस्य उनके लिए एक चुनौती था।

चुनौती उन्होंने मान ली। वह न्यूटन के सिद्धांतों की परीक्षा नये सिरे से कर रहे थे। उनका पक्का विचार था कि ये सिद्धान्त अब बासी पड़ चुके हैं। विज्ञान की प्रगति से मिले कई नये तथ्यों से वे मेल नहीं खाते थे। सबसे बड़ी बात तो यह कि एलबर्ट ने कभी किसी सिद्धांत को आंखें मूंद कर नहीं माना। उनका पक्का विश्वास था कि विज्ञान में भी अंधविश्वास कम नहीं हैं। इसलिए हर सिद्धांत की परीक्षा वह गणित की कसौटी पर करते।

सन १९०५।

एलबर्ट के प्रयोग जारी हैं। अचानक उनके मन के भीतर एक तूफान सा घुमड़ने लगा। चुप्पी कायम

न रह सकी। प्रयोगों ने मन को नये विचारों से लबालब भर दिया। ये विचार अब आप ही आप छलक पड़े। एलबर्ट आइंस्टाइन के भीतर का बाल-विज्ञानी अब वयस्क हो चुका था।

युवक आइंस्टाइन

१९०५ में आइंस्टाइन ने एक के बाद एक कई वैज्ञानिक निबन्ध लिखे। उनमें से कुछ के नाम हैं :

"प्रकाश की उत्पत्ति और रूपांतर के प्रति एक आविष्कारी दृष्टिकोण के विषय में।"

"ऊर्जा की जड़ता के बारे में।"

"ब्राउनी संचलन का नियम।"

"आणविक आयामों का एक नया निर्धारण।"

"चल पिंडों की विद्युत-गतिकी।"

ये सभी निबंध एक ही साल के भीतर तैयार किये गये थे। एक-एक लेख एक-एक जीवन के लिए महान कार्य था, विज्ञान के इतिहास का एक-एक नया अध्याय खोलता था।
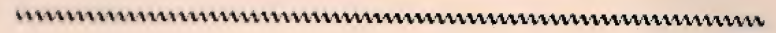
: महान वैज्ञानिक :

पेटेंट दफ्तर का वह अनजाना सा, गुमनाम सा किरानी! किसी जर्मन पत्रिका में उसने कुछ लेख छपवाये। पत्रिका भौतिकी की थी। ऐसी पत्रिकाएं पढ़ते ही कितने हैं? जो पढ़ते भी हैं, बड़े-बड़ों के नाम देख कर। जिस लेख पर किसी बड़े वैज्ञानिक का नाम नहीं होता, कोई उसे पूछने वाला तक नहीं होता। पेटेंट दफ्तर के किरानी के लेख कौन पढ़े? उस समय कौन जानता था कि इस गुमनाम किरानी के ये लेख विज्ञान की दुनिया में उलट-पलट पैदा कर देंगे?

लेकिन हुआ कुछ ऐसा ही। जो बात सदियों से स्वयंसिद्ध मानी जाती थी, वह अचानक निराधार सिद्ध हुई और कल तक जो बात असंभव मानी जाती थी, वही आज पूर्ण हो गयी!

लेख तो था भौतिकी पर, लेकिन उसका प्रभाव पड़ने वाला था सभी ज्ञान-विज्ञानों पर, कलाओं पर,

दर्शनों पर, मानव-समाज पर, पूरे चेतन-जगत पर !

लेकिन प्रभाव के इस विस्तार में अभी देर थी, काफी देर थी ।

जो भी हो, हमारे एलबर्ट अब महान वैज्ञानिक थे। वैज्ञानिक एलबर्ट आइंस्टाइन । हम भी अब से उन्हें आइंस्टाइन ही कहेंगे। दुनिया में उनका आइंस्टाइन नाम ही विख्यात है।

तो, इन लेखों में आइंस्टाइन ने क्या दिखाया था ? उन्होंने दिखलाया था कि देश (दिशाकाश), काल और भूत (पदार्थ) सब आपस में एक-दूसरे से गुंथे हैं।

उन्होंने दिखलाया था कि भूत, यानी पदार्थ, वास्तव में 'सोई हुई ऊर्जा' मात्र है, यानी ऊर्जा या मूल शक्ति ही केन्द्रित होकर पदार्थों के रूप धारण किया करती है।

उन्होंने यह भी दिखलाया था कि पदार्थ के किसी भी कण में छिपी हुई ऊर्जा मापी जा सकती है।

उन्होंने ऊर्जा को मापने का ढंग भी बतलाया।

आइंस्टाइन के इन सिद्धांतों ने तत्काल कोई चका-चौंध पैदा नहीं की। पर ऐसा नहीं कि किसी का ध्यान इन पर गया ही न हो। प्लांक उन दिनों के बहुत बड़े भौतिकी-विद् थे। आइंस्टाइन से उनका कोई परिचय

नहीं था। फिर भी प्लांक ने "चल पिंडों" वाले लेख की दिल खोल कर प्रशंसा की।

आइंस्टाइन अब चाहते थे कि उन्हें विश्वविद्यालय में पढ़ाने का काम मिल जाय। बर्न में जगह मिल भी रही थी। लेकिन कुछ बाधाएं आ खड़ी हुईं। जोर लगाते तो ये बाधायें दूर भी हो सकती थीं। पर उन्होंने जोर ही नहीं लगाया।

जगह आखिर मिली। लेकिन काम थोड़े ही दिन कर सके। कारण, अब जूरिच भी स्वागत को बाहें पसारे खड़ा था। १९०९ में वह भौतिकी के मूल सिद्धांतों के 'असाधारण आचार्य' होकर जूरिच गये।

शुरू-शुरू में पेटेंट विभाग के दिन बहुत-बहुत याद आते थे। जी होता था कि फिर उन शांत घड़ियों में लौट चला जाय। वहां शायद स्वतंत्रता भी कुछ अधिक ही थी।

१९११ में आइंस्टाइन को एक नया पद मिला। प्राग में 'साधारण आचार्य' का पद। यहां वेतन अधिक था।

पर सन १९१२ में वह फिर जूरिच लौट आये और १९१४ में वहां से कैसर संस्थान के निर्देशक बन कर बर्लिन गये। वैसे जर्मनी लौटने की उनकी इच्छा

नहीं थी, लेकिन बिना किसी वाधा के विज्ञान की सेवा कर सकने का लोभ कोई मामूली लोभ न था।

तब से १९३३ तक वह बर्लिन में ही रहे।

जर्मन में ही रहते हुए भी वह स्विस नागरिक ही बने रहे।

बर्लिन में ही उन्होंने सापेक्षता के सिद्धांतों को मांजा और पूर्ण बनाया। १९०५ में 'चल पिंडों' वाले जिस सिद्धांत का उन्होंने प्रतिपादन किया था, उसे 'सापेक्षता का विशेष सिद्धांत' कहते हैं। उसके प्रतिपादन के दो बरस बाद ही उन्हें उसमें 'सापेक्षता का सामान्य सिद्धांत' भी दिखाई देने लगा था। लेकिन 'सामान्य सिद्धांत' को प्रतिपादित करना कोई साधारण काम न था। आठ साल तक वह दिन-रात उसी के ध्यान में डूबे रहे। और तब, १९१७ में ही वह 'सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत' का प्रतिपादन कर पाये।

हां, सदियां लग जायेंगी इस 'सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत' के परिणामों को कूतने में।

तुम पूछोगे : क्यों ? ऐसी क्या बात है उसमें ?

इसलिए कि अब तक जो बड़े से बड़े वैज्ञानिक हो

गये थे उनके सोचने का ढंग कुछ-कुछ पुश्तैनी भी रहा है। आइंस्टाइन के सिद्धांत की मांग है कि सोचने की इन पुश्तैनी आदतों को छोड़ा जाय।

आदमी अपने निष्कर्षों में सुधार करने को तैयार रहता है, लेकिन जब निष्कर्षों के आधार ही बदलने पड़ें ? इसमें दिमाग साथ नहीं देता। आइंस्टाइन के सिद्धांत उन आधारों को ही बदल डालने की मांग करते हैं।

यही बात उनके पहले, 'विशेष सिद्धांत', पर भी लागू होती है।

प्वाइनकारे उन दिनों के बहुत बड़े वैज्ञानिक थे। उन जैसे दिग्गज वैज्ञानिक ने भी साफ-साफ स्वीकार किया था कि आइंस्टाइन की यांत्रिकी को समझने में मुझे वर्षों तक अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ी है और यह कि उसे स्वीकार करने में और भी एक पूरा साल लग गया।

यही कारण है कि दुनिया में यह विश्वास घर कर गया कि इस सिद्धांत को समझने वाले दस आदमी भी मुश्किल से मिलेंगे।

अमरीका की संसद में तो एक के बाद एक सभी सदस्यों ने उठ कर कहा कि इस सिद्धांत को समझना मेरे लिए असंभव है।

लेकिन आइंस्टाइन को इस तरह की बातें सुन कर बड़ी खीज होती थी। उनका कहना था कि भौतिकी के मूल सिद्धांतों का कोई भी संजीदा विद्यार्थी इसे समझ सकता है।

तुम पूछोगे : क्या आइंस्टाइन की बातों को सही साबित करने वाले कुछ उदाहरण भी हैं ?

हां, हैं। कितने ही।

आगे पढ़ो।

: सितारों के उस पार :

लो, अब कुछ उदाहरण भी सुन लो।

अपने सौरमंडल का ही एक उदाहरण ले लो।

सूरज के सबसे पास वाला ग्रह कौन सा है ?

बुध।

ठीक। इस बुध की कक्षा के हिसाब में एक छोटा-सा 'शेष' रह जाता था।

कितने का ?

कक्षा के चाप के पैंतालीस सेकेंड (विकला) यानी आठ सौवें भाग का !

एक सदी में एक बार बुध की कक्षा के चाप का हिसाब इतने से गड़बड़ा जाता था। दूरबीन की आंखें चौकस, अंकों का हिसाब चौकस, फिर यह इतनी सी भी गड़बड़ी क्यों ?

यही सवाल था। इस सवाल का कोई जवाब नहीं मिल रहा था। ज्योतिष विद्या कहती थी कि इसमें कोई रहस्य है।

आइंस्टाइन ने कहा : इसमें कोई रहस्य नहीं है।

१८ नवम्बर १९१५ ई० के दिन उन्होंने एक निबंध पेश किया। इसमें उन्होंने बतलाया कि सापेक्षता के सिद्धांत को मान लेने पर बुध की कक्षा के चाप का हिसाब रत्ती-रत्ती चुस्त बैठता है।

आइंस्टाइन के कायदे के मुताबिक हिसाब लगा कर देखा गया कि बुध की कक्षा का जो भाग सूरज के निकटतम पड़ता है, वह सौ साल के दौरान में तैंतालीस सेकेण्ड खिसक जाता है।

एक और उदाहरण लो,

बुध के हिसाब को ठीक करते समय ही आइंस्टाइन ने एक और काम किया था। उन्होंने प्रकाश की किरणों के पथ की खोज की थी। इस खोज से वह एक निराले नतीजे पर पहुंचे थे। उन्होंने कहा कि आकर्षण-क्षेत्र के प्रभाव से हर किरण जरा टेढ़ी हो जाती है।

टेढ़ी ? सूरज की किरण टेढ़ी ?

हां ! पर, तुम फिर सबूत मांगोगे। अच्छा सुनो :

१९१९ की २९ मई के दिन सूरज का पूरा ग्रहण लगने वाला था। ग्रहण से सूरज के चक्के के पूरे छिप

जाने पर उसके सबसे पास वाले सितारे दिखाई पड़ने लगते हैं।

आइंस्टाइन ने कहा—लो, नाप कर देख लो। किरणें ठीक उतनी ही मुड़ी मिलेंगी, जितनी कि मैं बताता हूं।

आइंस्टाइन ने उनका कितना मुड़े होना बताया था ?

आकाश के चाप का १$\frac{७}{१०}$ सेकेण्ड (विकला)।

लेकिन सितारों को नापे कौन ? किसी एक जगह पर अधिक से अधिक आठ मिनट तक ही पूरा ग्रहण देखा जा सकता था। चित्र लेने के लिए जगहें बहुत दूर-दूर थीं।

ब्रिटेन की विज्ञान परिषद, रॉयल सोसाइटी, ने यह भार अपने ऊपर लिया। सोसाइटी ने अंग्रेज वैज्ञानिकों के दो दल दो जगह भेजे। एक सोबराल को और दूसरा प्रिंसाइपे टापू को (अफ्रीका में)। दल का खर्च ब्रिटिश सरकार ने दिया और यंत्रों आदि का और उन्हें ढोने वाले जहाजों का रॉयल सोसाइटी ने। बड़े भारी-भरकम यंत्र खास इसी काम के लिए बनाये गये थे।

आखिर वह दिन आया। बादल नहीं थे। चित्र बड़ा ही साफ उतरा। यंत्रों ने पक्का काम किया। चित्र लेने वालों के हाथ सधे रहे।

लेकिन नतीजा क्या निकला ?

नतीजा निकलने में अभी देर थी। लोग रोज सुबह उठ कर अखबारों में देखते। लेकिन उन्हें अभी धीरज धरना था। चित्र तो मिनटों में ले लिये गये थे। उन्हें धोने, संवारने, कई गुना बढ़ाने और सबसे बढ़कर यह कि नापने में काफी समय लगता था।

आखिर सितम्बर में घोषणा हुई।

जवाब क्या था ?

जवाब था : हां ! मोड़ है और ठीक $१\frac{९}{१०}$ सेकेण्ड (विकला) का है ! दशअमलव विंदु तक ठीक !

गणित और मानव मस्तिष्क का ऐसा चमत्कार इससे पहले कभी देखा-सुना नहीं गया था !

और सुनोगे ?

आइंस्टाइन ने कहा, दुनिया में जितनी भी चीजें हैं, छोटी से छोटी या बड़ी से बड़ी सब ऊर्जा की भंडार हैं। ऊर्जा यानी शक्ति के बिना किसी चीज का 'होना' हो ही नहीं सकता।

हम चलते कैसे हैं ? अपने शरीर के अंदर की ऊर्जा से। आग जलती कैसे है ? ईंधन के अंदर की ऊर्जा से। बिजली कैसे कड़कती है ? बादल के पानी की ऊर्जा से। रेलगाड़ी कैसे चलती है ? भाप की ऊर्जा से।

आइंस्टाइन ने हर चीज में सोयी या जग रही ऊर्जा का हिसाब निकाला। यह हिसाब भी उनके उस सापेक्षता वाले सिद्धांत का ही फल था।

किसी भी चीज की संहति आसानी से नापी जा सकती है। आइंस्टाइन के हिसाब से किसी भी चीज की संहति में प्रकाश की गति से दो बार गुणा करने पर ऊर्जा निकाली जा सकती है। यानी ऊर्जा = संहति $\times$ गति^{२}।

संक्षेप में कहें तो : ऊ=संग^{२}।

क्या तुम यह जानते हो कि अणु शक्ति के उपयोग और स्पुतनिकों की अन्तरिक्ष यात्रा में आइंस्टाइन के इस गुर और सापेक्षता के सिद्धान्त का बहुत बड़ा हाथ है ?

तुम कहोगे कि सापेक्षता के सिद्धांत को सही साबित करने वाले उदाहरण तो हमने दे दिये, पर सिद्धान्त
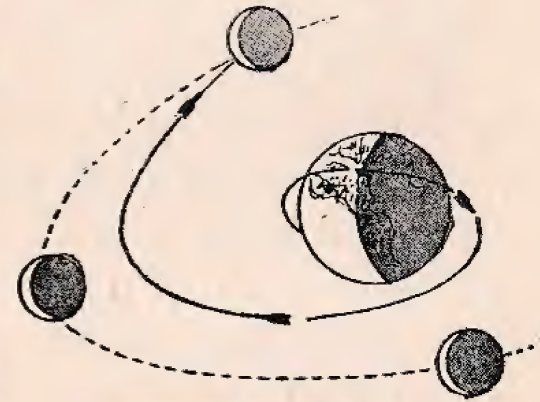
स्पुतनिक की अन्तरिक्ष यात्रा

अब तक नहीं समझाया। तुम्हीं सोचो, जब इस सिद्धान्त को समझने में बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को लोहा लग गया तो हम कैसे इसके विख्याता बन सकते हैं ? तो भी, एक मिसाल देकर मोटी बात समझाये देते हैं।

मान लो कि एक डाकगाड़ी है जो अठारह मील लंबी है। इसमें दो मुसाफिर हैं। एक श्री राम मनोहर जो गाड़ी के अगले छोर पर हैं। दूसरे श्री कृष्ण बिहारी, जो बिलकुल पिछले छोर पर हैं। दोनों के बीच अठारह मील की दूरी का अंतर है। बीच के तमाम डब्बे पारदर्शी हैं। इसलिए दोनों एक दूसरे को इशारे कर सकते हैं। दोनों के पास आदर्श घड़ियां हैं, जो एक ही चाल से चलती हैं।

पहले तो यह मान लो कि गाड़ी खड़ी है। श्री कृष्ण बिहारी सौवें मील के पत्थर के सामने हैं और राम मनोहर एक-सौ अठारहवें मील के पत्थर के सामने हैं। कृष्ण बिहारी किसी रोशनी की कौंध से राम मनोहर को इशारा करते हैं कि लीजिये, बारह तो बज गये। प्रकाश को १८ मील की दूरी तय करने में $\frac{१}{१००००}$ सेकेण्ड का समय लगता है। राम मनोहर ने कृष्ण बिहारी को रोशनी का इशारा किया होता तो भी ठीक इतना ही समय लगा होता। आगे को

जाना है कि पीछे को, इस बात से प्रकाश के वेग में कोई अंतर नहीं पड़ता।

अब मान लो कि गाड़ी बड़ी तेजी से चल रही है। दोनों मुसाफिरों ने फिर वही प्रयोग किया। इस बार भी वही नतीजा निकलता है।

लेकिन गाड़ी से बाहर बांध पर खड़े जमाल मियां कहते हैं कि नहीं, दोनों ओर के संकेतों को पूरी दूरी तय करने में जो समय लगते हैं, वे बराबर नहीं हैं। उन्हें भी ठीक वैसी ही घड़ी दे रखी गयी है। उन्होंने पक्का हिसाब करके देखा है।

जमाल मियां की बात ठीक है। आगे की ओर बढ़ रही किरण को अठारह मील से कुछ अधिक की दूरी तय करनी पड़ती है, क्योंकि इस बीच गाड़ी कुछ और खिसक गयी होती है; और, आगे से पीछे जाने वाली किरण अठारह मील चलने के पहले ही कृष्ण बिहारी तक पहुंच जाती है। कारण कि वह खुद ही इशारे की दिशा में थोड़ा सा खिसक आये हैं।

इस तरह प्रकाश का संचरण-काल गाड़ी के अंदर देखने पर एक है और गाड़ी के बाहर बांध के ऊपर से देखने में दूसरा। इस तरह "समय की अवधि का निर्णय निर्णायक के संचरण की अवस्था पर निर्भर है।"

समय की इसी सापेक्षता के ऊपर 'सापेक्षता के

विशेष सिद्धांत' के दूसरे तमाम नियम आधारित हैं। और सापेक्षता का सामान्य सिद्धांत 'सापेक्षता के विशेष सिद्धांत' का ही साधारणीकरण समझ लो!

आइंस्टाइन अब विश्व-विख्यात थे।

उनके सिद्धांत में ऊर्जा वाला जो पक्ष था, उसने संसार के ध्यान को सबसे अधिक आकर्षित किया। आइंस्टाइन ने कहा कि इस ऊर्जा का उपयोग संभव है।

परमाणु के लिए दुनिया में 'ऐटम' शब्द सबसे अधिक प्रचलित है। हिन्दी में भी 'ऐटम' शब्द का खूब प्रयोग होता है। शब्द का मूल यूनानी है: आतोमोस। अर्थ होता है, वह जिसका भाग या टुकड़ा न हो सके। लेकिन आइंस्टाइन के सिद्धांत ने उसके टुकड़े करने की राह खोल दी।

परमाणु को तोड़ कर उसकी ऊर्जा को बाहर निकालना संभव हो गया। लेकिन लोग यही सोचते थे कि यह संभावना सिद्धांत में ही रह जायगी।

वियना के एक प्रोफेसर श्री तिरिंग ने तो लिखा था, "कहीं एक ईंट की सोई ऊर्जा भी मुक्त हो गयी, तो शहर का क्या हाल होगा? सोच कर दम उखड़ने लगता है!...लेकिन खैर, ऐसा कभी नहीं होगा!"

दो-ढाई दशक बाद हिरोशिमा में विस्फोट हुआ और यह आशा धूल में मिल गयी!

लेकिन खैर, वह तो बाद की बात है।

आइंस्टाइन की खोज कितनी महान थी, इसका कुछ अंदाजा अंग्रेज नाटककार जॉर्ज बर्नार्ड शा के इन शब्दों से लग सकता है:

"नेपोलियन आदि महानुभाव साम्राज्यों के निर्माता थे। लेकिन जिन महापुरुषों के नाम मैं अभी ले रहा हूं, वे ब्रह्मांडों के निर्माता हो गये हैं। और इनके हाथ अपने मानव-बंधुओं के रक्त से रंगे नहीं हैं। ढाई हजार वर्षों का लेखा लेते हुए भी ऐसे कितने नाम मिलते हैं? उंगलियों पर गिन दे सकता हूं: पीथागोरस, तोलेमी, केपलर, कॉपरनिकस, अरस्तू, गैलीलियो, न्यूटन और आइंस्टाइन!"

आइंस्टाइन खुद तो छोटी से छोटी देन वाले वैज्ञानिकों को भी श्रेय देते थे, लेकिन न्यूटन के प्रति उनकी श्रद्धा सबसे बढ़-चढ़ कर थी। उनके घर में बस तीन ही चित्र थे। एक ओर फैरेडे का, दूसरी ओर लहराते घूंघरवाले बालों में मैक्सवेल का, और बीच में, छाती तक लटकती लटों का लहरिया 'विग' पहने, न्यूटन का।

: दूसरा विवाह :

सिद्धांतों के इस चक्कर में आइंस्टाइन के जीवन की कहानी तो बीच में ही छूट गयी।

हां, तो इस बीच आइंस्टाइन के पारिवारिक जीवन में भी चुपके से एक परिवर्तन हो चुका था।

मारित्श के साथ आइंस्टाइन का दाम्पत्य-जीवन सुखी नहीं हो सका। दस साल तक गृहस्थी का संग निभाने के बाद १९१४ में आइंस्टाइन जब बर्लिन जाने लगे तो मारित्श ज़ूरिच में ही रह गयी। दोनों लड़के भी मां के साथ ही रह गये।

बर्लिन में कुटुंबियों-सम्बधियों ने आइंस्टाइन का स्वागत किया। उन्हीं में आइंस्टाइन की एक चचेरी बहन भी थी—एल्से आइंस्टाइन।

एल्से एलबर्ट की बाल-संगिनी थी। बुद्धि की बड़ी कुशाग्र। उनका भी ब्याह, अपने बाल-संगी एलबर्ट की ही तरह, कच्ची उम्र में हो गया था। दो बच्चे थे।

एल्से का भी अपने पति से विच्छेद हो गया था। दोनों को एक-दूसरे से गहरा लगाव हो गया। जर्मनी लौटने के कुछ ही वर्ष बाद दोनों ने विवाह कर लिया।

यह विवाह गृहस्थी के आदर्श सुख में परिणत हुआ।

एल्से बड़ी ही पति-परायण पत्नी थीं। घर के सुख के लिए वह कोई जतन नहीं उठा रखती थीं। वह कहा करती थीं : "गणित में मेरी दिलचस्पी अपनी गृहस्थी के जमा-खर्च तक ही सीमित है।"

आइंस्टाइन जर्मनी लौटे ही थे कि पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया। एक ओर जर्मन साम्राज्य था, दूसरी ओर इंगलैंड, रूस और फ्रांस।

उन्होंने बहुत चाहा कि इस ओर से आंखें मूंद लें और अपने प्रयोगों में डूबे रहें।

पर लड़ाई एक ऐसी बुराई थी, जिससे उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। समझौता दूर, विरोध किये बिना भी नहीं रह सकते थे। उनका कहना था : "मेरी बोटी-बोटी उड़ा दी जाय, यह तो मुझे पसंद है, लेकिन ऐसे कुकर्मों में योगदान मैं कदापि नहीं कर सकता।"

शांति की विजय में उनका अटूट विश्वास था।

वह मानते थे कि विभिन्न राज्यों की जो अपनी

विशेषताएं हैं, उन्हें नष्ट किये बिना ही शांतिवादी लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

राष्ट्रीय विशेषताओं की रक्षा की चाह के कारण ही उनका एक गौण लक्ष्य यहूदी-वाद भी बन गया था। लेकिन इस विचारधारा का कोई दकियानूसी समर्थक उनके पास फटकने नहीं पाता था।

वह इसराईल के लिए, और खासकर वहां के इबरानी विश्वविद्यालय के लिए, चंदा उगाहने १९२१ के अप्रैल में अमरीका गये। साथ में ब्रिटेन के यहूदी वैज्ञानिक डा० वेइत्समान थे। अमरीका में बड़ा ही शानदार स्वागत हुआ। हजारों लोग सड़कों के किनारे खड़े होकर जय-जयकार करते मिले। किसी वैज्ञानिक का ऐसा स्वागत कभी नहीं हुआ था। राष्ट्रपति ने व्यक्तिगत रूप से उनका स्वागत किया।

लेकिन स्वागत के साथ विरोध भी मिला। कुछ ने उनके सिद्धांत को "दो कौड़ी का और राह भटकने वाला" कहा। किसी "देशभक्त संगठन" की महिलाओं ने मांग की कि इन्हें अमरीका में घुसने मत दो, क्योंकि इनके विचार "साम्यवादियों जैसे हैं।"

खैर, जिस उद्देश्य से निकले थे, उसमें पूरी सफलता लेकर लौटे।

इसराईल के प्रति उनकी इस सक्रिय सहानुभूति का एक और गहरा कारण था। योरप में यहूदियों पर जो बीत रही थी, वह उन्होंने अपनी आंखों से देखा था। इसके बाद उन जैसे भावुक के लिए और कोई चारा न था।

इसराईल की जो सेवा उन्होंने की वह निस्वार्थ थी। इसराईल के निर्माण के बाद खुद उसके नागरिक तक नहीं बने। और आचार्य वेइत्समान के मरने पर जब इसराईल वालों ने इन्हें राष्ट्रपति का पद देना चाहा तो साफ इनकार कर दिया। कहा—मैं इस योग्य नहीं हूं।

इसीलिए जब न्यूयार्क के विराट गिरजे में विद्वानों और संतों के साथ आइंस्टाइन की मूर्ति भी रखी गयी (यही एकमात्र ऐसी मूर्ति थी जो किसी जीवित मनीषी की थी), तो आपने कहा : "मुझे गर्व है। इसलिए नहीं कि मूर्ति मेरी है, बल्कि इसलिए कि मैं यहूदी हूं!" यह खुशी इसलिए थी कि चलो, मेरे कारण ईसाई कम-से-कम एक यहूदी के प्रति उदार तो हुए!

लड़ाई थमे कई वर्ष हो गये थे। अब शान्ति थी। अब फिर दुनिया में उनकी वैज्ञानिक उपलब्धियों

की धूम थी। लड़ाई खत्म होने के थोड़े दिन पहले उन्होंने "सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत" का प्रतिपादन भी पूरा कर लिया था। लड़ाई के खत्म होते ही किरणों के मोड़ की परीक्षा भी सफल हो चुकी थी। अब यह बात निर्विवाद थी कि आइंस्टाइन कोपरनिकस और न्यूटन के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।

उनके सिद्धांत को समझाने के लिए चलचित्र बनते रहे। भाषणों और विवादों का तांता लगा रहा। दुनिया में घर-घर में आइंस्टाइन के नाम की माला सी जपी जाती रही। लोग उनके नाम पर अपने बच्चों के नाम रखते रहे। हस्ताक्षर बटोरने वाले जीना दूभर करते रहे। उनके नाम के सिगार चलते रहे। गरज यह कि उनका नाम लेना भी एक फैशन हो चला।

अब आइंस्टाइन का अपना जीवन अपना न रहा। चौबीस घड़ी कोई न कोई झमेला लगा रहता। बड़े लोगों के जलसों और सम्मान-पार्टियों से उन्हें बड़ी चिढ़ होती। वह कहते, "नसीब का फेर है; जाने क्यों मुझको इतनी स्तुतियों और श्रद्धाओं का भार ढोने को चुन लिया है उसने। मैंने कौन सा पाप किया है? पुण्य कहो तो पुण्य ही क्या किया है? यह तो संन्यासी को फांसी जैसी बात हुई!"

इतना ऊंचा स्थान मिल चुकने पर भी वह अपनी सादगी छोड़ने से साफ इनकार करते रहे। चमड़े का एक लबादानुमा कुरता और मामूली सी पतलून! यही था उनका पहनावा।

पैसों की ओर लापरवाही बरतते। कहते, "विज्ञान से पैसे कमाना? नाः, यह मेरे बस का रोग नहीं। मेरा जयतिलक बिक्री का सौदा नहीं..."

: जर्मनी में बर्बरता :

अमरीका की यात्रा से आइंस्टाइन वापिस लौटे तो जर्मनी का बुरा हाल था। जर्मन लड़ाई में हार चुके थे। भीतरी कलह देश को उधेड़े डाल रही थी। लाखों लोग बेकार थे।

बेकारी के सवाल को हल करने में वह जुट पड़े। आंदोलन खड़ा किया।

प्रतिगामी चिल्ला उठे, "यह तो छिपा साम्यवादी है।"

राजनीति और राजनीतिक विचार सचमुच उनके काम में आड़े आते रहे। राजनीतिक शतरंज के खिलाड़ी ऐसे मुहरे ढूंढ़ रहे थे, जिन्हें कटा कर अपने दांव बचा सकें। बदनामी के लिए, जनता के दुख-दर्दों के लिए दोषी ठहराने के लिए, सबसे अच्छे निशाने थे शांतिवादी। जनवादियों और यहूदियों को भी उसी तीर से मारा जा रहा था।

आइंस्टाइन शांतिवादी भी थे, जनवादी भी, यहूदी भी! लोग उन्हीं पर टूट पड़े।

पर आइंस्टाइन चुप नहीं रहे। दुनिया में उनका जो अपार मान-सम्मान था, उसका लाभ उठा कर वह अपने उद्देश्यों के लिए निर्भीकता से लड़ते रहे। जब कभी जनवादी हितों और जनवादी सिद्धांतों पर आंच आते देखते, खुल कर विरोध करते।

जिस किसी भी उद्देश्य को उन्होंने न्यायपूर्ण समझा, उसका साथ दिया। जर्मन मजदूरों और राजबंदियों के लिए आम रिहाई की अपील की। अमरीकी मजदूर-नेता मूनी की सजा के बारे में कैलिफोर्निया के लाट को पत्र लिखा और कहा कि यह तो न्याय का गर्भपात है। अमरीकी राजकर्मी साको और वानजेत्ती के बचाव के लिए आंदोलन किया। स्काट्सबरो के सात हबशी नौजवानों के बचाव के लिए आंदोलन किया। जर्मनी में उदार विचार वालों के नौकरियों से हटाये जाने की कोशिशों का डट कर विरोध किया।

इन सारी बातों से आइंस्टाइन जर्मन जनवाद के शत्रुओं की आंखों में कांटे की तरह खटकने लगे।

इसी बीच जर्मनी में जो राजनीतिक रोग फैल रहा था, उसका नाम था नात्सीवाद। नात्सीवाद का रोग

दिन-दिन बढ़ ही रहा था।

यहूदी मुहल्लों पर धावों का जोर बढ़ता गया।

आइंस्टाइन ने नात्सी बर्बरता के मूल कारणों पर प्रकाश डाला : "पहला विश्वयुद्ध जर्मनी के शासक वर्ग के षड़यंत्रों का फल था। लेकिन उस युद्ध में जब जर्मन हार गये, तो यहूदियों के मत्थे दोष मढ़ने की कोशिशें की जाने लगीं। लड़ाई उकसाने का और हारने का, दोनों पापों का भागी उन्हीं को ठहराया जाने लगा। इस यहूदी-विद्वेष ने ही शासक वर्गों की रक्षा की।...अब फिर वही चाल चली जा रही है !"

इस बीज (१९३२) में आइंस्टाइन को नोबेल पुरस्कार मिला। पुरस्कार की पूरी राशि, कोई ढाई लाख रुपये, उन्होंने अपनी पहली पत्नी को भेज दी।

लेकिन नात्सियों को इससे क्या ! नात्सी तो ज्ञान-विज्ञान के भी जानी दुश्मन थे। ज्ञान उनके लिए वही जो उन्हें 'अतिमानव' माने। विज्ञान उनके लिए वह जो संसार के संहार के लिए सारे हथियार ढाल-ढाल कर उनके हाथों में सौंपता रहे।

उन्होंने आइंस्टाइन के खिलाफ हजारों परचे निकाले। एक से एक आग भड़काऊ। एक परचे में तो आइंस्टाइन का चित्र था और नीचे लिखा था : "यह अभी तक फांसी पर नहीं झूला !"

नात्सियों ने 'राज्य के शत्रुओं' की लिखी पुस्तकों की होलियां जलायीं। इन पुस्तकों में आइंस्टाइन की पुस्तक "सापेक्षता का सिद्धांत" भी थी।

आइंस्टाइन के सिद्धांत को वे "बोल्शेविक भौतिकी" कहते थे। इस बात की कोशिशें भी की गयीं कि "आइंस्टाइन सिद्धांत" में से "आइंस्टाइन" शब्द निकाल दिया जाय !

स्पष्ट था कि अब जर्मनी में उनका टिकना संभव न था। उन्हें मार डालने की धमकियां भी दी जाने लगीं। जब वे पढ़ा रहे होते तो नात्सी गुंडे उनकी कक्षा में घुस कर चिल्लाने लगते, "मार भगाओ ! मार भगाओ, यहूदी बुड्ढे को !"

आइंस्टाइन समझ गये थे कि जर्मनी से कहीं और चले जाने में ही कुशल है। एक मुलाकात में अखबार वालों को उन्होंने साफ बतला भी दिया : "यहां पर सुरक्षा असम्भव है। खुफिये जीने पर सोते हैं। नीचे गुप्त दल के लोग रहते हैं। मेरी पत्नी के तो डर के मारे बुरे हाल हैं !"

जब दुनिया ने यह सुना कि आइंस्टाइन जर्मनी छोड़ना चाहते हैं तो हर देश वाले उन्हें अपने यहां बसाने के लिए ललक उठे। बेलजियम के राजा ने

उनकी सुरक्षा के लिए जी-जान से व्यक्तिगत प्रयत्न किये। लेकिन उनके जीवन पर जो खतरा मंडराने लगा था, वह बढ़ता ही गया।

१९३३ में नवंबर महीने में आइंस्टाइन परिवार सहित निकल भागे। इंगलैंड, फ्रांस, अमरीका, बेलजियम, स्पेन—लगभग सभी देशों की सरकारों ने उन्हें अपने यहां आ बसने का निमंत्रण दिया।

: अमरीका में :

१९३३ के दिन थे। आइंस्टाइन जर्मनी से निकल चुके थे। जर्मनी में नात्सी बर्बरता अपनी पूरी नग्नता पर थी। नात्सियों ने ऐलान किया कि जो बहादुर इस आइंस्टाइन का काम तमाम कर देगा, उसे बीस हजार मार्क (जर्मन सिक्के) इनाम में दिये जायेंगे। आइंस्टाइन उस समय बेलजियम में थे। बेलजियम की पुलिस ने उनसे जाकर कहा कि अब आपकी रक्षा करने में हम असमर्थ हैं। आइंस्टाइन इंगलैंड चले गये। इंगलैंड में ही नात्सी इनाम की घोषणा की खबर मिली। सुन कर आइंस्टान ने कहा : "मुझे पता न था कि मेरी जान इतनी कीमती है!"

लेकिन दुनिया भर में लाखों हितैषी और हजारों विज्ञान-प्रेमी चिंतित हो उठे। इंगलैंड से ही आइंस्टाइन की सेक्रेटरी का काम करने वाली दोनों लड़कियां उनकी रक्षा के लिए हथियारों से लैस होकर चौबीस घंटे उनके साथ रहने लगीं।

फिर वे पूरे कुटुम्ब के साथ अमरीका पहुंचे और प्रिंसटन में रहने लगे।

जर्मनी छोड़ने का इरादा जाहिर करने के बहुत पहले से ही अमरीका के प्रिंसटन शहर की 'इंस्टीट्यूट आफ एडवांस्ड स्टडी' उन्हें बुला रही थी। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने अमरीका में ही बसना तय किया। विश्वविद्यालय ने प्रस्ताव रखा कि आइंस्टाइन अपना वेतन आप निर्धारित करें। आइंस्टाइन ने कहा कि सालाना तीन हजार डालर काफी रहेंगे। विश्व-विद्यालय के एक प्रतिनिधि से उन्होंने पूछा : "क्यों ठीक है न ? या इससे भी कम में निर्वाह हो सकता है ?"

उन्हें बताया गया : "यह आप क्या कहते हैं ! कम की तो बात छोड़िए, इतने में भी आपका निर्वाह नहीं हो सकता।"

आखिर सोलह हजार डालर सालाना तय पाया गया। आइंस्टाइन प्रिंसटन में बस गये।

अपना शोधकार्य तो चलता ही था, सत्तम कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाते भी थे। इसमें उनका खूब मन लगता था। विद्यार्थी जल्द ही उन्हें दिल से प्यार करने लगे। उनकी महान ख्याति से दब कर विद्यार्थी अपनी समस्याओं से उन्हें उलझाने में हिचकते थे। ऐसे

विद्यार्थियों को बढ़ावा देते हुए वह कहते, "मेरी सुविधा-असुविधा की कोई परवाह न करो। जब चाहो, आ जाया करो। कोई समस्या हो, मेरे पास लाओ। मेरे काम में तुमसे कोई बाधा नहीं पड़ने की। मैं तो अपना काम चाहे जहां से भी रोक सकता हूं, फिर जब चाहूं उसी बिंदु से उसे आगे बढ़ा सकता हूं।"

एक बार विद्यार्थियों ने आइंस्टाइन से हठ किया : सापेक्षता की कोई खूब जनप्रिय-सी परिभाषा बताइए।

आइंस्टाइन ने बताया :

"घंटे भर किसी सुन्दरी के पास बैठे रह कर भी आदमी यही सोचता है कि अभी तो मिनट भर भी नहीं हुआ। लेकिन उसी को अगर गरमायी अंगीठी के ऊपर मिनट भर को बैठा रखो, तो उसे वह मिनट घंटे भर से ज्यादा मालूम होगा। यही सापेक्षता है।"

सापेक्षता की यह भी खूब 'परिभाषा' रही। ऐसी 'परिभाषाएं' वह पहले भी एक-आध बार दे चुके थे।

अपने सिद्धांत के परीक्षित होने के पहले भी उन्होंने एक बार यही बात यों कही थी : "अगर यह सिद्धांत प्रमाणित हो गया तो जर्मनी वाले महान जर्मन के रूप में मेरी जयजयकार करेंगे और फ्रांस वाले

विश्व-नागरिक के रूप में। और अगर गलत साबित हुआ तो फ्रांसीसी मुझे जर्मन कह कर दुतकारेंगे और जर्मन यहूदी कह कर !"
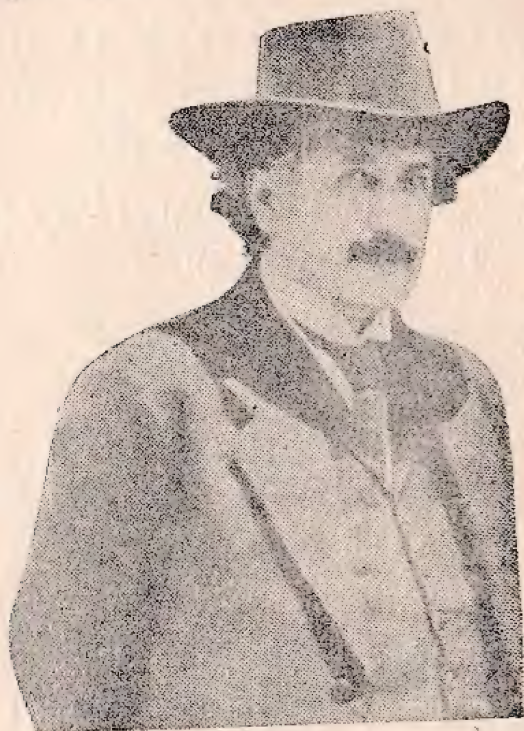
वैज्ञानिक आइंस्टाइन

सच तो यह है कि देशों के बीच संकीर्णता की जो दीवारें खड़ी कर रखी गयी हैं, उनसे उन्हें घृणा थी।

अमरीका में जीवन शांति से बीत रहा था।

पांच साल इसी तरह सुख-शांति से कटे। किन्तु तब एक दुखद घटना घटी। १९३८ में श्रीमती एल्से आइंस्टाइन का देहान्त हो गया। आइंस्टाइन के दिल को गहरा धक्का लगा।

पत्नी के निधन पर उन्होंने नितांत करुण दुर्बलता जताते हुए कहा, "बुढ़ापे में छोड़ गयीं !" मानो अनाथ हो गये हों।

दिन-रात काम में लगे रह कर ही इस दुख को वह किसी तरह भुलाये रहते थे।

अब परिवार में सौतेली बेटी मारगोत थी, बहन माया थी और सेक्रेटरी हेलेन दूकास थी। बेटों में से एक कैलिफोर्निया में रहने लगा था। वहां के विश्व-विद्यालय में वह इंजीनियरी पढ़ता था।

: परमाणु बम और शांति :

आइंस्टाइन अक्सर कहा करते थे, "मेरा जीवन तो एक सीधी-सादी सी चीज है, इसमें किसी को क्या दिलचस्पी हो सकती है ?"

लेकिन २ अगस्त, १९३९ के दिन उन्होंने एक ऐसा काम किया जो मानव-जाति के भविष्य को बहुत प्रभावित करने वाला था।

उन्हें खबर मिली थी कि जर्मन वैज्ञानिक नाभिकीय खंडन (परमाणु के नाभिक को तोड़ने) की दिशा में प्रयोग कर रहे हैं। उन्हें संदेह हुआ कि शायद नात्सियों को सफलता भी मिल रही है।

इसी संदेह के कारण उन्होंने अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को एक पत्र लिखा—२ अगस्त, १९३९ के दिन। पत्र में लिखा था कि परमाणु-शक्ति से बम बनाये जा सकते हैं। नात्सी शायद बना भी रहे हैं। अमरीका को भी इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस सवाल पर फौरन अमल शुरू कर दिया जिसका परिणाम...

परिणाम वह हुआ जिसकी उन्हें आशंका तक नहीं थी।

परिणाम ठीक पांच साल बाद जापान को भुगतना पड़ा। ६ अगस्त, १९४५ को हिरोशिमा पर परमाणु-बम गिरा। "ऊ=सं ग^{2}" के समीकरण ने पूरे शहर को तबाह कर दिया। दो लाख पैंतालीस हजार की आबादी वाले उस शहर में लगभग एक लाख लोग मर गये या यम के द्वार तक पहुंच गये। लगभग इतने ही और लोगों को आजीवन नारकीय यातना देने वाले आघात पहुंचे।

आइंस्टाइन ने यह सब सुना। सुन कर कलेजा थाम लिया। कराहते हुए बोले, "आह, दुनिया अभी इसके लिए तैयार न थी। यह नहीं भूलना चाहिए कि परमाणु बम इस देश में (अमरीका में) एक विरोधी उपाय के रूप में ही तैयार किया गया था।...इस बम को अवैध घोषित करने से इनकार करना...कभी माफ नहीं किया जा सकता !"

मृत्यु से कुछ पहले वह कहने लगे थे, "मैं उपयुक्त घड़ी आ पहुंचने की बाट जोह रहा हूं। उसे आ जाने

दो, मैं अपनी सारी शक्ति लगा कर चिल्लाऊंगा...।" लोग इस उधेड़बुन में पड़े थे कि न जाने यह क्या चिल्लाने वाले हैं। उनके मरने के तीन माह बाद उनके दार्शनिक मित्र लार्ड बर्ट्रेंड रसेल ने वह वक्तव्य प्रकाशित किया। उस वक्तव्य पर आइंस्टाइन ने दुनिया भर के चुने-चुनाये वैज्ञानिकों से हस्ताक्षर करवाये थे। आइंस्टाइन का अपने जीवन में यही प्रथम और अंतिम वक्तव्य था।

वक्तव्य में कहा गया था: "किसी भी भावी विश्वयुद्ध में नाभिकीय (परमाणु-जनित) अस्त्रों का उपयोग होना एकदम निश्चित है। और ये अस्त्र मानव-जाति के अस्तित्व तक को मिटा दे सकते हैं। ऐसी सूरत में, संसार की सरकारों से हमारा जोरदार तकाजा है कि उनमें आपस के झगड़े-टंटों के जो भी सवाल हों, उन्हें सुलझाने के लिए वे कोई न कोई शांतिमय उपाय निकालें।..."

बम के फूटने से उनके चालीस साल पुराने सिद्धांत की प्रामाणिकता सिद्ध हुई थी। लेकिन इससे उन्हें सुख तो क्या होता, गहरा सदमा पहुंचा।

कारण ?

कारण आइंस्टाइन का जीवन विज्ञान की उप-

लब्धियों तक ही सीमित नहीं था। उसमें तो इन उप-लब्धियों के साथ जनगण के प्रति गहरी सहानुभूति और सम्मान भी था।

भौतिकी के एक अन्य नोबेल-पुरस्कार विजेता कांपटन ने कहा था: "आइंस्टाइन इसीलिए महान हैं कि उन्होंने हमें विश्व का सच्चा रूप दिखलाया है और यह बात हमें स्पष्टता के साथ समझा दी है कि अपने चौगिर्द के ब्राह्माण्ड के साथ हमारा क्या सम्बंध है।..."

कोई और होता तो उसके लिए इतना ही काफी था। लेकिन आइंस्टाइन जितने बड़े वैज्ञानिक थे, उससे कहीं बड़े मानव-धर्मी थे। और उनके मानव-धर्म की धुरी थी विश्व-शांति, जिसकी उपासना वह बचपन से करते आ रहे थे।

आइंस्टाइन का मानव-धर्म बहुत ही गहरा था। इस धर्म का पालन वह मन-वचन से ही नहीं, कर्म से भी करते थे।

बुढ़ापे में भी उनके द्वार सबके लिए खुले रहते। जिस किसी को भी परामर्श, प्रोत्साहन या सहायता की जरूरत होती, बेधड़क उनके पास पहुंच जाता। वहां सभी का एक जैसा स्वागत होता। वह कहा करते थे,

"कोई कूड़े वाला हो या विश्वविद्यालय का अध्यक्ष, सबसे मैं एक ही तरह बातें करता हूं।"

कितना भी जरूरी काम कर रहे हों, आपके पहुंचते ही फौरन काम बंद कर देंगे और पूरे ध्यान से आपकी बातें सुनने लगेंगे।

लोग भी इसका खूब लाभ उठाते थे। दिन-रात उनके अनमोल समय पर धावा बोलते रहते थे। डाक इतनी आती कि उसे संभालने के लिए उन्हें अपने घर में एक अलग विभाग खोलना पड़ा था। घड़ी भर भी उन्हें ऐसा समय नहीं मिल पाता था, जिसे वह अपना कह सकें? दालान में कोई चित्रकार बैठा राह देख रहा है तो कोई छविकार या मूर्तिकार; कोई अखबार वाला 'मुलाकात' लेने आया है तो कोई शब्द-चित्र, रेखा-चित्र या जीवनी का लेखक! और वह हैं कि छटपटा रहे हैं कि आह बेचारा कब से बैठा है! आराम के समय का उनकी पत्नी बहुत ध्यान रखती थीं। उस समय कोई आता तो वह उसे टालने में तर्कों की सारी बारीकियां और प्रभाव डालने की अपनी सारी शक्ति लगा देतीं। लेकिन लोग ऐसी जल्दी में होते कि इतने पर भी उन्हें बुलवा ही लेते। कोई तेल-रंग में कुछ बना रहा है तो कोई 'पेरिसी पलस्तर' में, कोई जल-रंग में तो कोई

काली स्याही में, कोई काठ-खुदाई में तो कोई छापे में! और हर कोई अपने काम को सबसे महत्वपूर्ण मान रहा है!

लेकिन कुछ मामलों में आइंस्टाइन का धीरज टूटने लगता। ऐसा तब होता, जब उन्हें 'बड़े लोगों' के जलसों में घसीटा जाता। लगता, जैसे कोई यंत्रणा दी जा रही हो! अगर किसी जलसे में गये भी तो मेज-बानों को जितनी खुशी होती, उससे अधिक शर्मिंदगी होती। कारण? कारण, आइंस्टाइन के चेहरे पर मानो यह बात साफ-साफ लिखी होती कि—हाय, कैसी आफत में आ फंसा हूं; कहां घसीट लाया गया हूं।

इसके ठीक विपरीत, उनका चेहरा खिल उठता छोटी-छोटी मित्र मंडलियों में; ऐसी मंडलियों में जहां उन्हें स्तुति नहीं, स्नेह मिलता, जहां उनकी पंडिताई का ढोल नहीं पिटता बल्कि उनके व्यक्तित्व की पहचान होती। ऐसी मंडलियों में आप उन्हें जैसा ढालना चाहें, ढाल लें। वहां वह भूल जाते कि मैं ही आइंस्टाइन हूं।

इन मंडलियों में उनकी एक और विशेषता प्रकट होती : उनकी हास्य-प्रियता। हलकी मुसकान से लेकर ठहाके की हंसी-ठिठोलियों तक उनका हास्य-भंडार भरा रहता।

जब कभी ऐसी बातें होतीं जिनसे उनका रोष जाग पड़ता, तो उनका रूप देखते ही बनता। ये बातें आम तौर पर राजनीतिक ही होतीं। राजनीति में भी खास तौर पर सैन्यवादी या सामंती सरकारों की बुराइयों को याद दिलाने वाली बातें। ऐसे अवसरों पर वह तमतमा उठते। 'बड़े-बड़ों' पर व्यंग्य के पैने तीर छोड़ते और फिर देखते ही देखते भविष्य के सुनहले स्वर्ग की अटकलबाजियों में ऊंची-ऊंची उड़ानें भरने लगते।

उन्होंने जाने कितने ही विषयों पर हलके से हलके सुरों में गहरी से गहरी बातें कही होंगी! काश, उन बातों को किसी ने लिख रखा होता! भाषण भी बहुत कम देते थे। एक बार किसी विज्ञान परिषद ने भाषण देने को बुलाया। कहला भेजा, फिलहाल तो कोई नयी बात अपने पास है ही नहीं। फिर चार साल बाद खबर भेजी कि अब चाहें तो मेरा भाषण करा लें, कहने को मेरे पास नयी बात हो गयी है।

कुछ लोग कहते हैं कि आइंस्टाइन तो हर भले-बुरे उद्देश्य का साथ देने को तैयार रहते थे। लेकिन जिन उद्देश्यों का उन्होंने जीवन भर साथ दिया उन्हें देखिये तो पता चलेगा कि ये उद्देश्य एक-दूसरे से कैसे जुड़े हुए हैं। १९५४ में वकीलों के एक सम्मेलन को

उन्होंने संदेश भेजा था: "मानव अधिकारों की लड़ाई राजनीतिक विश्वासों और विवादों की स्वतंत्रता के लिए ही लड़ी जा रही है।...साम्यवाद के भय से कुछ ऐसी कारगुजारियां अमल में आ रही हैं, जिन्हें समझ पाना सभ्य मानवता के लिए मुहाल है।"

अपनी स्पष्टवादिता के कारण आइंस्टाइन को अमरीका में भी सत्ताधारियों का कोपभाजन बनना पड़ा, ठीक जर्मनी की ही तरह। १९४५ में अमरीकी संसद के सदस्य रैंकिन ने मांग की कि आइंस्टाइन पर कानून तोड़ने के अपराध में मुकदमा चलाया जाय। "न्याय विभाग से मेरी यह मांग है कि इस शख्स, इस आइंस्टाइन, को ठिकाने लगाया जाय!" १९५३ में अमरीकी परिषद के सदस्य मैकार्थी ने कहा कि आइंस्टाइन तो "खुद ही अमरीका का शत्रु है...हमारी समिति के सामने पेश होने वाले हर साम्यवादी वकील ने ठीक वही सलाह दी है जो आइंस्टाइन देता है।"

लेकिन आइंस्टाइन को फिर भी चुप नहीं किया जा सका। मानव अधिकारों की रक्षा के लिए वह तत्परता के साथ संघर्ष करते रहे।

: रहन-सहन और आदतें :

वैज्ञानिक बहुधा नीरस देखे गये हैं; कला को बला मानने वाले। आइंस्टाइन ऐसे नहीं थे। उनके जीवन में कला की भी अपनी एक निश्चित भूमिका रही।

संगीत में उन्हें बचपन से ही रुचि थी। गीत उन्हें रुचते ही नहीं थे, बल्कि गीत वह स्वयं रचते भी थे। संगीत सुनते समय उनका मुखमंडल दीपित हो उठता था। भीतर रगों-रगों में झनकारते स्वर बाहर चेहरे पर अपनी छवि आंक जाते।

वह बेला बहुत ही अच्छा बजाते थे। हां, इस कला में किसी ऊंचाई का दावा नहीं करते थे। कला-कारी की कठिनाइयां हल करना खूब जानते थे। बेला के कृती-वादकों में जोकिम का प्रभाव उन पर सबसे अधिक था।

पियानो का अभ्यास भी किया करते थे, लेकिन

एकांत में। कोई भाग्यवान छिप कर सुन ले तो सुन ले।

साहित्य से आइंस्टाइन का सम्बंध संगीत जितना घनिष्ट नहीं था।

लेकिन कुछ साहित्यकारों के प्रति उनकी श्रद्धा अपार थी, खास कर शैक्सपीयर के प्रति। गेटे के वह प्रशंसक तो थे, भक्त नहीं।

दार्शनिकों में प्रशंसा तो वह कइयों की करते थे, लेकिन मानते किसी की भी बात नहीं थे। मानते भी कैसे? दर्शन को तो अभी सापेक्षता के नये आधार पर अपनी इमारत नये सिरे से खड़ी करनी थी!

चित्रकारी को आइंस्टाइन कोई महत्व नहीं देते थे। संगीत और चित्रकला का एक साथ नाम लेना भी उन्हें पसंद नहीं था। चित्रकला को संगीत से बहुत नीचे के स्तर पर मानते थे। लेकिन मूर्ति-शिल्प के आगे वह श्रद्धा-नत रहते थे।

उनका एक और मनोरंजन था : सैर। पैदल चल कर मैदानों, पहाड़ियों और सागर तटों की सैर तथा नाव खेकर नदियों, झीलों और खाड़ियों की सैर।

उनकी सैर का कोई निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य नहीं होता था। इस बात का कोई हिसाब नहीं रहता था कि कहां कौन सी चीज देखने योग्य है।

उनके सैर-सपाटे भी उनके जीवन की ही तरह सादे हुआ करते थे ।

'पोत' नावों की मंडलियों के साथ दो-चार बार वह निकले जरूर थे, लेकिन दौड़ में भाग लेने के लिए नहीं । नाव को भी वह उसी तरह खेते थे, जिस तरह सैर-सपाटों में पैदल चलते थे ।

दिन भर में जितना काम आसानी से निकल पाता था, उससे अधिक निकालने की कोई कोशिश वह नहीं करते थे । काम के बारे में उन्होंने अपने ऊपर कोई ऐसी बंदिश नहीं लगायी थी कि रोज कम-से-कम इतना तो करना ही है ! और काम जब तक करते रहते थे, तभी तक उसकी चिंता भी करते थे । झूठे सपनों से उन्हें न तो कोई प्रेरणा मिलती थी और न अपनी समस्याओं से भटक जाने का प्रलोभन ।

कपड़ों-लत्तों के प्रति वह इतने उदासीन क्यों रहते थे ? पहनावे और चेहरे को देख कर तो ऐसा लगता था, मानो इन्हें इस ओर ध्यान देने की फुरसत ही न मिलती हो ।

इसका जवाब आइंस्टाइन के सहकर्मी और मित्र श्री इनफील्ड ने दिया है :

"प्रिंसटन में मेरे एक सहकर्मी ने पूछा : 'अगर आइंस्टाइन को अपनी शोहरत पसंद नहीं है और अपनी एकांत घड़ियों की तादाद को वह अगर बढ़ाना चाहते हैं तो साधारण लोगों की तरह क्यों नहीं रहते ? इतने लंबे-लंबे बाल क्यों बढ़ाये रखते हैं, चमड़े का अजीब-सा कुरता क्यों पहनते हैं, मोजे क्यों नहीं पहनते, पतलून में ब्रेस (गले की पट्टियां) क्यों नहीं लगाते, कमीजों में कालर क्यों नहीं लगाते, टाई क्यों नहीं बांधते ?'

"जवाब सीधा-सा है : वह अपनी आवश्यकताएं सीमित रखना चाहते हैं । इस सीमाबंदी के जरिए वह अपनी स्वतंत्रता बढ़ाना चाहते हैं । हम लाखों चीजों के गुलाम बन गये हैं । हम नहाने के कपड़ों के गुलाम हैं, रेफ्रीजरेटरों के गुलाम हैं, हवा गाड़ियों के गुलाम हैं, रेडियो-सेटों के गुलाम हैं और ऐसी ही जाने कितनी ही लाखों चीजों के गुलाम बन रहे हैं । आइंस्टाइन ने इन सब चीजों को घटा कर न्यूनतम आवश्यकताएं ही रखी हैं ।"

ऐसे थे आइंस्टाइन !

: कूच का समय :

आइंस्टाइन ने अपने जीवन का अधिकांश समय (काल) काल के अध्ययन में ही बिताया था। किन्तु समय को अब तक कोई नहीं बांध पाया। अबाध गति से समय बहता रहता है और अपने साथ एक - एक को बहा ले जाता है। एक दिन आइंस्टाइन का भी समय आ गया। कूच का समय !

वृद्ध आइंस्टाइन

१८ अप्रैल, १९५५ के दिन, ७६ वर्ष की आयु में वह हमारे बीच से चल बसे।

सारी दुनिया ने विनय, स्तुति और कृतज्ञता की भाषा में दिवंगत मनीषी को श्रद्धांजलियां अर्पित कीं।

उनके जीवन की सफलताओं को थोड़े शब्दों में गिनाया जाय तो :

- उन्होंने भौतिकी के क्षेत्र के सभी ज्ञात तथ्यों को एक नियम के सूत्र में पिरोया।
- "सापेक्षता का विशेष सिद्धांत" दिया।
- संहति और ऊर्जा में, तथा गति और ऊर्जा में सम्बंध स्थापित किया।
- "सापेक्षता के सामान्य सिद्धांत" को जन्म दिया।

इन तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि आइंस्टाइन जैसे आइंस्टाइन अभी तक के इतिहास में एक ही पैदा हुए हैं।

मानवता सदा आइंस्टाइन की ऋणी रहेगी।

संक्षिप्त तिथि-पत्रिका

एलबर्ट आइंस्टाइन : हरमान आइंस्टाइन के सुपुत्र।

जन्म : १४ मार्च, १८७९।

जन्म-स्थान : जर्मनी का उल्म शहर।

शिक्षा : बचपन में घर पर यहूदी शिक्षा, स्कूल में कैथोलिक धर्म की शिक्षा। गणित से प्रेम।

१८९४ : परिवार मिलान गया, साथ ही आइंस्टाइन भी।

१९०१ : स्विस नागरिक बने।

१९०२ : बर्न के एक पेटेंट दफ्तर में नौकरी शुरू की।

१९०३ : मारित्श नामक महिला से पहला विवाह।

१९०५ : पेटेंट दफ्तर की नौकरी से अलग हुए।

१९०९ : ज्यूरिच में भौतिकी के अध्यापक बने।

१९११ : प्राग में भौतिकी का अध्यापन।

१९१४ : दूसरा विवाह एल्से आइंस्टाइन से। कैसर विल्हेल्म फिजीक इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर बने।

१९३२ : नोबेल पुरस्कार मिला।

१९३३ : जर्मनी छोड़ने पर बाध्य हुए।

१९३८ : एल्से आइंस्टाइन की मृत्यु।

मृत्यु : १८ अप्रैल, १९५५; ७६ वर्ष की आयु में।